

जॉन होल्ट की पुस्तक 'असफल स्कूल : क्यों पढ़ें?'

► शारदा कुमारी

यह पुस्तक मौजूदा स्कूली शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त खामियों की ओर संकेत करती है। ये संकेत भारतीय विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के लिए भी उतने ही प्रासंगिक और अर्थपूर्ण हैं जितने कि पश्चिमी समाज की स्कूली प्रणाली के लिए।

पुस्तक की प्रस्तावना न्यूयॉर्क शहर की पत्रिका 'एजुकेशन न्यूज' के सम्पादकों द्वारा पूछे गए प्रश्न "अमेरिका के स्कूलों को यदि इस साल एक बेहतर कल की ओर एक बड़ा कदम उठाना हो, तो वह क्या होना चाहिए?" के उत्तर से शुरू होती है। इस प्रश्न के उत्तर में लेखक कहता है, "वह कदम होगा प्रत्येक बच्चे को यह अधिकार देना कि वह अपनी शिक्षा को खुद नियोजित करे, खुद निर्देशित करे, और खुद ही उसका मूल्यांकन करे। उसे इस बात की अनुमति देना और इसके लिए प्रोत्साहित करना कि वह विशेषज्ञों और ज्यादा अनुभवी लोगों की प्रेरणा और मार्गदर्शन से खुद तय करे कि उसे क्या सीखना है, कब सीखना है, कैसे सीखना है, और वह उसे कितनी अच्छी तरह से सीख रहा है।"

यह पुस्तक आश्चर्यजनक रूप से भारत की मौजूदा शैक्षणिक दुनिया को उत्तेजित करती है और शिक्षा व्यवस्था में क्या-क्या बदलाव आने चाहिए, इस पर कलात्मक और समालोचनात्मक ढंग से अपना रुख स्पष्ट करती है। इस अर्थ में यह पुस्तक अपनी चिन्ता में मानवाधिकारों तथा लोकात्मिक मूल्यों को भी शामिल करती है। पुस्तक में किसी पत्रिका या किताब में छप चुके लेखक के छोटे-छोटे 14 लेखों का संकलन है। इंग्लैंड में जॉन होल्ट द्वारा दिया गया व्याख्यान इस संकलन को और समृद्ध बनाता है। अपने आखिरी पन्नों में यह पुस्तक मौजूदा शिक्षा व्यवस्था से उभरे सवालों से भी टकराती है।

पुस्तक का पहला लेख 'सच्ची सीख' शिक्षा के मायनों पर रोशनी डालता है। हरेक बच्चे में, बिना किसी अपवाद के, अपनी दुनिया को समझने की एक असीमित अंदरूनी ललक होती है और वह इस दुनिया में सक्षम बनना चाहता है, उसमें स्वतंत्रता चाहता है। जो बातें सच में बच्चे की समझ, खुशी, विकास की क्षमता और उसमें अपनी स्वतंत्रता के अहसास और स्वाभिमान को बढ़ाती हैं, उन्हीं को हम सच्ची शिक्षा कह सकते हैं।

लेखक के अनुसार शिक्षा वह चीज है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए खुद हासिल करता है। वह कोई ऐसी चीज नहीं कोई दूसरा उसे देता या दे सकता है। लेखक के अनुसार शिक्षा वही है जो अपने आसपास की दुनिया को बेहतर ढंग से समझने और अपने-आपको विकसित करने में मदद करे। साथ ही अपने आसपास की असली समस्याओं से जूझ सकने और इंसानियत का भला कर सकने की क्षमता पैदा कर सके। अपने बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में समाज की स्कूलों से कुछ अपेक्षाएँ हैं। समाज चाहता है कि स्कूल बच्चों को अपनी परम्पराओं और संस्कृति के उचित मूल्यों को सिखाएँ, बच्चे जिस दुनिया में जीते हैं उससे उन्हें अवगत कराएँ और बच्चों को किसी रोजगार के लिए तैयार कर सकें।



लेखक का मानना है कि स्कूल इनमें से एक भी काम अच्छी तरह से नहीं कर पा रहे क्योंकि वे समाज का हिस्सा बनने के स्थान पर उससे अलग-थलग रहकर कार्य कर रहे हैं। पुस्तक हर कदम पर स्वीकार करती है कि शिक्षा और काम के बीच जो विरोध स्कूलों ने पैदा कर दिया है वह अवास्तविक और घातक है।

किताब का लेख 'थोड़ी-सी सीख' शैक्षिक सिद्धान्तों पर चर्चा करते हुए इस बुनियादी गलती की ओर इशारा करता है कि समझ मूलरूप से शाब्दिक और सांकेतिक होती है। लेखक

चिंतकों को इस धुँधलके से बाहर निकलने और कक्षाओं को एक बिलकुल ही अलग तरह की जगह में बदल देने की गुजारिश करते हैं।

तीसरा लेख 'स्कूल बच्चों के लिए खराब जगह है' जहाँ एक ओर अपने शीर्षक से चौंकाता है तो दूसरी ओर स्कूलों के मौजूदा स्वरूप से उपजने वाले भयानक खतरों की ओर भी आगाह करता है। "...कि स्कूल बच्चों को अपना 'स्विच ऑफ' कर लेने की एक लम्बी ट्रेनिंग देता है" यह एक अकेला वाक्य ही यह बतलाने भर में समर्थ है कि किस तरह से स्कूल का माहौल बच्चों के दिमाग पर अंकुश लगाकर उन्हें समग्र रूप से रचनात्मक जिंदगी जीने नहीं दे रहा।

लेखक ने चुप्पी की संस्कृति की खिलाफत करते हुए कहा है कि जो शिक्षक सूनी कक्षाओंके अभ्यस्त हैं वे बच्चों की बुद्धिमानी प्रफुल्लता, मजाक की क्षमता का कोई अन्दाजा नहीं लगा पाएँगे वे हमेशा बच्चों को बेवकूफ और पढ़ने के नाकाबिल ही समझेंगे। बच्चों के सीखने के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट किया गया है कि "बच्चों को अपने काम का मूल्यांकन खुद करने दें।" जो बच्चा बोलना सीख रहा हो, वह बार-बार टोकने से नहीं सीखता। अगर उसे बहुत बार टोका जाए तो वह बोलना बन्द कर देगा। बच्चों को अपनी गलतियाँ खुद सुधारने दें। यदि वे चाहें तो अन्य बच्चों की सहायता से खुद शब्दों का सही अर्थ खोजें, समस्याओं के हल खोजें और बातचीत का सही तरीका सीखें।

'चूहा दौड़' शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने कुछ नामी स्कूलों पर भीषण आरोप लगाया है कि वे काबिल विद्यार्थियों का भीषण शोषण करते हैं। ये स्कूल बच्चों को व्यापार जगत की ही तरह एक उपभोक्ता के रूप में देखते हैं और उन पर विनाशकारी मनोवैज्ञानिक दबाव डालते हैं। 'चूहा दौड़' संकेत करता है उस प्रतिस्पर्धा की ओर, जहाँ बच्चे स्कूली शिक्षा के बाद कॉलेजों में प्रवेश के लिए भटकते हैं। सभी का ध्येय नामी कॉलेजों में दाखिला पाने का होता है पर कम अंकों की वजह से वह अपने मनचाहे कॉलेज और कोर्स में प्रवेश नहीं ले पाते। इस स्थिति को लेखक ने बहुत ही दर्दनाक और अमानवीय बताया है। लेखक की नजर में अच्छे अंक पाने के दबावों का एक विस्तृत और सामान्य परिणाम यह हुआ है कि सीखने की प्रक्रिया का अर्थ ही बदल गया है। बच्चे सीखने की अपेक्षा 'सही उत्तर' की खोज कर पाने को ही शिक्षा समझ बैठे हैं। वे गलती करने से कतराने लगते हैं। इससे उनकी बौद्धिक प्रतिभा ढंक जाती है और सच्ची सीख असम्भव हो जाती है।

‘शिक्षक बहुत ज्यादा बोलते हैं’ लेख के माध्यम से उन्होंने कक्षा में बच्चों के बीच पैदा की जा रही चुप्पी की संस्कृति की कड़े शब्दों में निन्दा की है। लेखक के अनुभव इस बात के पक्षधर हैं कि अध्यापकों को कक्षाओं में बोलने का बहुत शौक होता है। वे बच्चों को बोलने का अवसर ही नहीं देते। उनका ज्यादातर बोलना कक्षा की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए होता है।

इस बिन्दु पर शोर देते हुए ‘सीखने’ की अवधारणा स्पष्ट की गई है और स्पष्ट किया है कि सीखना कोई निष्क्रिय कार्य नहीं है। वे आरोप लगाते हैं कि स्कूली व्यवस्था और बेलगाम बोलने वाले शिक्षक ही बच्चों को निष्क्रिय शिष्यों में बदल देते हैं। शिक्षकों को कक्षा में कम बोलने की सलाह देते हुए और बच्चों की आवाज को मुखरित करने की अपेक्षा करते हुए पुस्तक ‘परीक्षा पद्धति’ के बारे में मानस को झिंझोड़ती है। शीर्षक है ‘परीक्षण का आतंक’। शीर्षक कौतूहल जगाने में समर्थ है। दरअसल शीर्षक अपने आप में एक विस्तृत चिंतन और अनुभवों का परिणाम है। जरा कल्पना कीजिए यदि इस लेख का शीर्षक होता है ‘परीक्षाओं का स्वरूप’ या फिर ‘स्कूलों में परीक्षाएँ’ तब यह लेख पाठकों को निर्देश तो देता पर किसी तरह का संवाद नहीं करता।

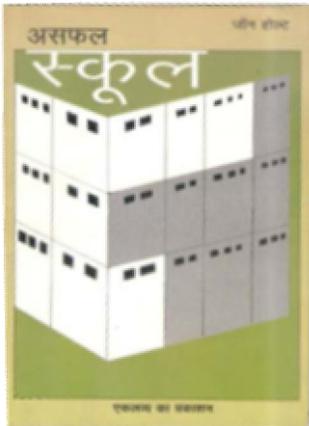
लेखक ने परीक्षण को शिक्षा का अभिन्न अंग माने जाने की पुरजोर खिलाफत की है। उनका कहना है, “...मेरी राय में परीक्षण न तो जरूरी है, न ही उपयोगी और उसे माफ करना मुश्किल है। परीक्षण से फायदा कम, नुकसान ज्यादा होता है, उससे सीखने की प्रक्रिया विकृत हो जाती है, रूक जाती है।” परीक्षण की वकालत करने वालों के दावे कि “परीक्षण की तकनीकों में लगातार सुधार हो रहा है और वे अन्त में एकदम दुरुस्त हो जाएगी” की भी खिलाफत करते हुए समझ बनाने की कोशिश की जाती है कि हमारी प्रमुख चिन्ता परीक्षण को बेहतर बनाने की नहीं, बल्कि उसको पूरी तरह से हटाने की होनी चाहिए। “बच्चों को समझ में आए या नहीं, उपयोगी है या नहीं, इसको छोड़ो। बस यह देखो कि परीक्षा में बच्चों के अच्छे नम्बर आएँ।” इन वाक्यों को और बढ़ाते हुए परीक्षा के प्रति अपनी तमाम आपत्तियाँ दर्ज की जाती हैं। परीक्षाओं से उन विद्यार्थियों को ही सजा मिलती है जो धीरे काम करते हैं। परीक्षाएँ उनका ही साथ देती हैं जो अनुमान लगाने में चतुर होते हैं।

परीक्षण के आतंक से गुजरते हुए पाठक अनिवार्य उपस्थिति के नियमों पर संवाद करेंगे ‘सुनहरे नियमों वाले दिन ढले’ शीर्षक जरिए। शीर्षक जितना मौजू है उसका कलेवर उससे भी कहीं अधिक। अनिवार्य उपस्थिति के कुल दिवसों के बारे में आम धारणा यह है कि विद्यार्थी अधिक-से-अधिक दिन विद्यालयों में रहेंगे तो अधिक-से-अधिक सीखेंगे। परन्तु लेखक इस प्रचलित धारणा का खण्डन करता है। उसके अनुसार जब ये नियम बने तो ये बच्चों के हक में थे। वे दरअसल शिक्षा प्रदान करवाने और आर्थिक शोषण करने वाले वयस्कों किसान, छोटे दुकानदार और कारीगर, जिन्हें खुद औपचारिक शिक्षा का मौका नहीं मिला था, अपने बच्चों से भी खदानों, कारखानों और खेतों में काम करवाना पसन्द करते थे। अनिवार्य उपस्थिति के कानून इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिए बने थे परन्तु अब जिस तरह की कक्षायी शिक्षण प्रक्रियाएँ मौजूद हैं विद्यालयों में, वे अपने-आप में बच्चों के शोषण का बहुत बड़ा कारण हैं। स्कूलों द्वारा करवाए जा रहे कार्यों और दिए जा रहे उकताऊ किस्म के ‘होमवर्क’ के रहते बच्चे बहुत सेरोचक और गंभीर कार्यों को नहीं कर पाते जिन्हें कि वे करना चाहते हैं।

यह सही है स्कूल में बच्चों को अपनी ही उम्र के बहुत से और बच्चों से मेल-जोल के मौके मिलते हैं पर वहाँ चल रही कवायदें क्या वाकई उन्हें मेल-जोल करने के मौके देती हैं? यदि नहीं तो स्कूल निश्चित रूप से जेलखाने से अधिक नहीं हैं। स्कूल की बजाय बच्चे घर, पास-पड़ोस और खेल के मैदानों में कहीं अधिक और बेहतर सीख पाते हैं, इस तरह के उदाहरण देते हुए पुस्तक ले चलती है हमें एक नए आयाम की ओर जहाँ से यह संकेत मिलता है कि विद्यालयों द्वारा अपनाई जा रही शिक्षण पद्धतियाँ किस तरह से बच्चों में पढ़ने के प्रति नफरत पैदा करती हैं। 'नॉन स्टाप' और 'निबन्ध दौड़' जैसे बहुत से रोचक उदाहरण पढ़ते हुए पाठक 'व्यवस्था और अव्यवस्था' के घेरे में अपने-आपको पाते हैं। "सच्ची सीख कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं होती" यह कहकर लेखक चौंकाता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि स्कूल में जब तक अनुशासन की व्यवस्था नहीं होगी, क्या तब बच्चे कुछ सीख पाएंगे? पर लेखक के विचार तो कुछ और ही हैं। बच्चों का कक्षा में जमकर शोर मचाना अनुशासन हीनता नहीं हो सकता और फिर वे शोर इसलिए मचा रहे हैं क्योंकि वहाँ उससे अच्छा कुछ और करने के लिए है ही नहीं।

लेखक ने मौजूदा कक्षा व्यवस्था के प्रति अपना गहरा रोष प्रकट करते हुए कहा है कि ये व्यवस्थाएँ बच्चों को बोलने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती हैं। उनका अनुभव है कि जब बच्चों को हिज्जों सम्बन्धी गलतियों के लिए टोका जाता है तो वे लिखने से कतराने लगते हैं और जब मानक भाषा या बड़ों जैसी भाषा में बोलने की अपेक्षा की जाती है तब वे बोलने की अपेक्षा चुप रहना पसन्द करते हैं। जब बच्चों को लगता है कि बड़ों को उनकी बातें सुनने में गहरी रुचि है और हम उनका कोई मूल्यांकन करने नहीं आए हैं तो ये बच्चे बड़ी कुशलता से धारा-प्रवाह भाषा में बोलते हैं। बच्चों के बोलने के सन्दर्भ में एक बहुत बड़ी शिक्षणशास्त्रीय चिन्ता की ओर ध्यान दिलाया गया है कि बच्चों को मानक भाषा बोलने के लिए बाध्य करना भी उन्हें 'चुप रखने का तरीका है।

हमें इस धारणा को खारिज करना होगा कि यदि गरीब बस्तियों के बच्चे मानक भाषा नहीं बोल पाते तो वे बुद्धिहीन, कम होशियार या बातचीत में अपंग हैं। ऐसा मान लेना गम्भीर गलती होगी। हालाँकि पूरी पुस्तक जान होल्ट के अपने अनुभवों का संकलन है और वे अनुभव जो उसने अमेरिका के विद्यालयों के अवलोकन के दौरान अर्जित किए थे पर हर दूसरी-तीसरी पंक्ति को पढ़कर पाठक इसी भ्रम में रहेंगे कि यह तो भारत की मौजूदा स्कूली शिक्षा व्यवस्था की बात चल रही है।



'असम्भव पढ़ाई को पढ़ाना' शीर्षक के इस अंश को पढ़कर आपको क्या ऐसा ही नहीं महसूस होता? "... हमारे शहरों की गरीब बस्तियों में स्थित स्कूल अपने खराब माहौल के कारण कई तरह से बच्चों का विकास कम, विनाश अधिक करते हैं। बच्चों के प्रति उनका व्यवहार लगातार शत्रुतापूर्ण रहता है। . . .हमारी कोशिशें यह रहती हैं कि किस प्रकार हम गरीब बच्चों को प्रभावशाली ढंग से बोलना सिखाएँ और साक्षर बनाएँ। . . .हमारे सबसे अच्छे स्कूलों की भी हालत कोई अच्छी नहीं है। उनमें से निकले अधिकांश बच्चे, बस्ती के गरीब बच्चों की तरह ही, न तो ठीक से बोल पाते हैं और न ही अपनी मनपसन्द चीजों के बारे में लिख पाते हैं। . . .वे कभी भी अपनी सच्ची राय नहीं

लिखते और अगर उन्हें बाध्य नहीं किया जाता तो शायद वे कभी लिखते ही नहीं। . . . स्कूलों और कक्षा में फिजूलकी बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है।”

कक्षा में सफाई, काम में बारीकी, शिक्षक के घिसे-पिटे विचारों में आस्था को स्वतंत्र, मौलिक, ईमानदार विचारों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है। आज भी बहुत से स्कूलों में हिज्जों और व्याकरण की छोटी-मोटी गलतियों के कारण बच्चों को फेल कर दिया जाता है। निबन्धों में बच्चों की मौलिकता या अन्य खूबियों का कोई मूल्यांकन नहीं होता। लेखक ने सिर्फ समस्या को ही सामने नहीं रखा है अपितु सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं जैसे, “अगर हमें विद्यार्थियों की लिखने की कुशलता को बेहतर बनाना है तो हमें सबसे पहले एक बात सीखनी होगी। विद्यार्थी भाषा को हमेशा अपने तरीके से उपयोग करेगा, वह प्रभावशाली हो इसकी कोशिश करेगा। वह भाषा का परीक्षण उन लोगों के साथ बात करके करेगा जो न केवल उसकी बात को सुनें बल्कि जो उसके विचारों को गम्भीरता से भी लें।”

मौजूदा समस्याओं की सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्तियों का विश्लेषण और अंतः सम्बन्धों को ‘भविष्य के लिए शिक्षा’ शीर्षक द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने शिक्षा की समस्या पर चर्चा के समय भीड़ वाली कक्षाओं, शिक्षकों की कमी, पुरानी इमारतों, आर्थिक कमी, शैक्षणिक सत्रों और तकनीकों के प्रभावों की कमी, मूल्यांकन के तरीकों आदि को शिक्षा की समस्या माना ही नहीं है। उनके अनुसार पर्यावरण, शांति, काम के अवसरों और मानव होने की गरिमा को खतरा, यह सब शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली समस्याएँ हैं, स्वयं लेखक के शब्दों में, “हमारे सामने यह समस्या नहीं कि स्कूल कैसे काम करें, बल्कि यह कि उनका काम क्या है, कि शिक्षा का हमारे समय की बड़ी समस्याओं और मुद्दों से क्या सम्बन्ध है ?”

भविष्य के लिए शिक्षा को क्या-क्या काम करने होंगे, इस सवाल को बहुत जोरदार तरीकेसे लेखक ने उठाया है। शांति स्थापित करने, जाति-वर्ग के भेद को दूर करने, काम के अवसरों की सुलभता, पर्यावरण का संरक्षण, मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता का अहसास इन सब कामों में स्कूलों को ही आगे आना होगा। शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है ऐसे लोगों को बनाना जो अपने जीवन से खुश हों। मनुष्यता को जीवित रखने के लिए ऐसे लोगों को बनाना सीखना होगा जो अपने जीवन को सम्पूर्ण रूप में जीना चाहते हों, उसे सार्थकता और खुशहाली से भरना चाहते हों। लेखक का मानना है कि आज स्कूलों में हम ऐसे लोगों को विकसित कर रहे हैं जिनका उद्देश्य किसी भी तरीके को अपनाकर जीवन में दूसरों से आगे बढ़ना है। स्कूल ऐसे समुदाय के रूप में उभरने चाहिए, जहाँ पर बच्चे भाषणों से नहीं, बल्कि वास्तविक काम करके और जीवन जीकर अन्य लोगों की आवश्यकताओं के प्रति चेतना और सहानुभूति हासिल करें।

गरीबी, कचरे और पर्यावरण हनन को लेखक ने सिर्फ आपस में नहीं बल्कि अन्य समस्याओं से भी जुड़ा पाया है जिस लालच के कारण पर्यावरण को खतरा है उसी की वजह से गरीबी को समाप्त करना मुश्किल है। शिक्षा के सामने यह चुनौती है कि वे लालचके सुराखों से बचकर बड़े होने और जिन्दगी जीने के तरीके बच्चों को सिखाएँ। लेखक ने स्वीकार किया है कि लालच कुछ सीमा तक तो स्वाभाविक भी है लेकिन इसकी कोई तर्कसंगत सीमा होनी चाहिए। एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण पेश करते हुए लेखक ने लालच की सीमा को चित्राकित किया है “मेन नाम के शहर में खेलकूद के सामान

की बड़ी दुकान है। उसके मालिक मिस्टर बीन को एक बार किसी ने थोड़ी मेहनत से व्यापार को तिगुना करने का गुर बताया। इस पर मिस्टर बीन ने कहा, “आखिर क्यों? मैं दिन में चार बार तो भोजन नहीं कर सकता।” इस तरह के संतोष की भावना पैदा करना शिक्षा का ही काम है। और यदि स्कूल यह काम करने में सफल हो जाते हैं तो पर्यावरण को खतरे जैसी समस्याओं का हल तो खुद-ब-खुद निकल आएगा।

दरअसल लेखक का मानना है कि जब हम पैसा कमाने के लिए एक-दूसरे की होड़ करते हैं तभी प्राकृतिक संसाधनों को खतरा पहुँचता है। शिक्षा के क्षितिज पर तरह-तरह के सवालों को उभारकर पाठकों के मानस को झिंझोड़ती हुई पुस्तक एक पत्र पर आकरसमाप्त होती है जो लेखक ने अपने किसी मित्र डॉ. ब्लिस को लिखा है। पत्र के कुछ अंश प्रस्तुत हैं जो कि पुस्तक के समूचे कलेवर का सार संक्षेप प्रस्तुत करते हैं, “... मेरी राय में बच्चे तभी सबसे अच्छा सीखते हैं जब वे खुद किसी चीज को सीखना चाहते हैं, जब वे खुद ही निर्णय लेते हैं कि वे उसे कब और कैसे सीखेंगे, जब वे किसी चीज को किसी के कहने से नहीं, बल्कि खुद अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए सीखता हूँ। . . . मैं चाहता हूँ कि बच्चों को अपनी सीख बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन किया जाए और इसमें उनकी मदद की जाए। . . . हम जो कुछ भी कहते हैं उसके द्वारा हम सीखने और जीने को पृथक्कर देते हैं, जबकि हमें उन्हें जोड़ने का प्रयास करना चाहिए. . . ।”

अंततः एक मूल सवाल उठाकर पुस्तक की समीक्षा पर विराम लगाती हूँ। क्या हम बच्चों को भीरू, आज्ञाकारी, डरपोक, कायर बनाना चाहते हैं या फिर मुक्त चिन्तन एवं मननशील इंसानों जैसा? अगर हमें भीरू लोग चाहिए तो हमारे स्कूलों की वर्तमान हालात उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त हैं और अगर हमें चिंतनशील इंसान चाहिए तो कुछ बड़े-बड़े परिवर्तन करने चाहिए। जिन लोगों की दिलचस्पी समाजशास्त्रीय अनुभवों और सिद्धांतों के समानान्तर शिक्षा के सरोकारों में रही है उनके लिए यह पुस्तक एक जरूरी सन्दर्भ है।

‘असफल स्कूल’ अमेरिका के होम स्कूलिंग पर लिखी गई अंग्रेजी किताब ‘द अंडर एचीविंग स्कूल का हिन्दी अनुवाद है। इसे हिन्दी में एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, शिवाजीनगर, भोपाल ने प्रकाशित किया है।

समीक्षक : शारदा कुमारी, वरिष्ठ प्रवक्ता, जिला शिक्षा प्रशिक्षण संस्थान, सेक्टर - 7, आर. के. पुरम, नई दिल्ली। यह समीक्षा ‘प्राथमिक शिक्षक’ जुलाई, 2011 से साभार।